जितेन्द्र श्रीवास्तव- जीवन का प्रमेय गढ़ते हुए

मनोज पाण्डेय
संपर्क: 9595239781

'प्रमेय' जितेन्द्र श्रीवास्तव का प्रिय शब्द है। यह शब्द सिद्धि और साधना की अपेक्षा रखता है। जीवनानुभूति को काव्यानुभूति का विषय बनाती जितेन्द्र की काव्य-मनीषा उन प्रमेयों को सतत् गढ़ने की कोशिश करती जान पड़ती है जो अनछुए हैं, अनसुलझे या अनचिह्ने हैं -किन्हीं अर्थों में उपेक्षित और बहिष्कृत भी। उनकी कविताओं से गुजरते हुए बार-बार इन प्रश्नों से दो-चार होना होता है कि आखिर मनुजता की परिधि को व्यापक कैसे बनाया जाए। मानवीय संवेदना को कैसे सघन किया जाय कि उसका आयतन वृहद हो सके। दूसरे शब्दों में, उनकी चिंता का विषय ही मुख्यत: यही है कि मनुष्य की महत्ता को, गरिमा को कैसे बचाया जाय।

अभी तक उनके नौ काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जाहिर है, उनकी काव्य-यात्रा एक लम्बा सफर तय कर चुकी है। यह भी कि, अपना एक चिर-परिचित रास्ता भी अख़्तियार कर चुकी है। यही वजह है कि उनका हर संग्रह एक तरह से पूर्व का ही विस्तार लगता है। उसमें वही प्रतिबद्धता, वैसा ही तेवर और वैसी ही चिंता झलकती है जो कि उनके कवि-मानस का जीवद्रव्य है। 'सूरज को अंगूठा' भी उसी द्रव्य से सृजित जीवन- प्रमेय की साधना है। इस साधना में कवि की पक्षधरता तो स्पष्ट दिखती ही है, अपने समय और समाज की वर्चस्ववादी संस्कृति के विरुद्ध तीखा प्रतिरोध भी दर्ज मिलता है। वे बड़ी गहराई से समाज की उन चुनौतियों को टटोलते-परखते हैं जिनसे मानवीय संवेदना का सीधा सरोकार है। कह सकते हैं कि कवि की चिंता के दायरे में वे लोग हैं जिन्हें उजास की तलाश है, जिन्होंने सपने देखने बंद नहीं किये हैं। सामाजिक सरोकारों पर चिंतन करते हुए, समस्याओं पर विचार करते हुए, दुख बतियाते हुए, पत्नी से गुफ़्तगू करते हुए, छोटे भाई की शादी में मां की चर्चा करते हुए, पिता को याद करते हुए , पुराने मित्र से मिलते हुए, आत्मबल को बटोरते हुए, आखिरी आदमी की चिंता करते हुए, आजादी के भावार्थ को परखते हुए नये कबीर की प्रतीक्षा में कवि जितेन्द्र रोजमर्रा के उन तमाम बुनियादी सवालों से टकराते हैं जिनसे उनकी कविताई विन्यस्त हुई है। और, जीवन के उन बहुविध रंगों, छटाओं, दिशाओं को एक प्रमेय की भांति सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

सूरज को अंगूठा दिखाते हुए एकतरफ़ कवि मानवीय सपनों, इच्छाओं को वाणी देता है तो दूसरी तरफ चुप्पी के समाजशास्त्र का भाष्य गढ़ता है। वह व्यथित है कि 'सब चुप हैं/अपनी-अपनी चुप्पी में अपना भला

ढूंढते/सबने आशय ढूंढ लिया है/जनतंत्र का/अपनी-अपनी चुप्पी में।' जिस तेजी से हमारे समय में जीवन के निहितार्थ बदलते जा रहे हैं, निजता सबसे बड़ा मूल्य होता जा रहा है, उसमें यह कहना कतई गलत नहीं कि 'हमारे समय में /जितना आसान है उतना ही कठिन चुप्पी का भाष्य।' जिस कदर प्रतिरोध की साँसे टूटती जा रही हैं, समझौतापरस्ती बढ़ती जा रही है, कोई भी अपनी निजता के दायरे से बाहर आने में सशंकित महसूस कर रहा है। जितेन्द्र सही कहते हैं 'लोग भी खूब हैं धरती पर/एक नहीं दिख रहा/इस ओर कहां ध्यान है किसी का/पैसा पैसा -पैसा/पद प्रभाव पैसा /यही आचरण /दर्शन यही समय का।' यह हमारे समय की सबसे बड़ी विडंबना है कि पद-प्रभाव-पैसा ही जीवन का एकमात्र मक़सद बन गया है। और इसे हासिल करने के लिए मनुष्य येन-केन-प्रकारेण सन्नद्ध है। नतीजा समाज में बढ़ती वैमनस्यता, भ्रष्टाचार-व्यभिचार-दुराचार। कुल मिलाकर, अव्वल दर्जे की अमानवीयता का नंगा-नृत्य। इसीलिए कवि चिंतित है गांधी के उस आखिरी आदमी के लिए जो जीवन के गुणा-भाग से दूर है,पर उसकी जिंदगी का, उसके सपनों का भी सौदा किया जा रहा है। वह ठीक कहता है 'अब भी दफ्तरों में टँगती है/महात्मा गांधी और डॉक्टर अंबेडकर की तस्वीरें/पर कोई ताकना भी नहीं चाहता/महात्मा गांधी के आखिरी आदमी की तरफ/डॉक्टर अंबेडकर के सपनों की तरफ/इन दिनों लोकतंत्र में/गांव का दक्खिन हो गया है आखिरी आदमी।'

जितेन्द्र की कविताओं के भूगोल की परिधि व्यापक है। उसमें पारिवारिक विन्यास के रास्ते जीवन की विविधता को प्रकट करने का कौशल है। वे बहुस्तरीय हैं। जीवन के बहुआयामी फलक को छूती हैं। इनके विषय हमें व्यापक जीवनबोध से रु-ब-रू कराते हैं। वे केवल संत्रास के, शुकून के, प्रेम के, भोग के, विरह के, आक्रोश के कवि नहीं हैं, न ही पूर्वजों की अस्थियों में विचरण करने वाले स्वप्नप्रिय हैं, और न ही निरा प्रतिरोध की लाठी भांजने वाले कवि हैं। ये सब उनके यहां मौजूद हैं लेकिन उनके अपने रंग और अपनी काया में- रचना के जीवद्रव्य की तरह। उनकी कविताओं की यही विशिष्टता है कि जैसे उसमें सबके अनुभव का संसार साझा होने को आकुल है। उसमें जीवन के सपने भी हैं स्मृतियां भी, गांव-देहात भी है खेत-खलिहान, किसान-मजूर भी, प्रेमराग भी है परिवार भी, प्रकृति भी है संस्कृति भी, मन को उर्वर बनाने की चेष्टा भी है और पृथ्वी को बचाने की आकांक्षा भी।कुल मिलाकर जीवन के विविध रसायनों से स्निग्ध हैं जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएं।

स्वप्न पालना, हाथी पालना नहीं होता

जितेन्द्र स्वप्नदर्शी कवि हैं। सपने उनके लिए जिन्दगी की गतिशीलता के पैमाने हैं। सपने वही देखता है, देख सकता है जिसमें कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है। सपने पालना आसान काम नहीं होता। सपनों का सौदागर वही हो सकता है, जिसमें जीवन जीने का हौसला हो। जो समझौतापरस्त और गुलाम मानसिकता के अर्थात् बुझदिल होते हैं, वे सपनों के सौदागर नहीं हो सकते। कवि कथन है 'सपना पालना/हाथी पालना नहीं होता/जो शौक रखते हैं/चमचों, दलालों और गुलामों का/कहें जाते हैं स्वप्नदर्शी

सभाओं में/सपने उनके सिरहाने थूकने भी नहीं जाते।' स्वप्न सचेतनता का परिचायक होता है, वह कभी चुकता नहीं। सदियों से, पीढ़ियों से सपने मानव जीवन के सहचर रुप में मनुजता के विकास की कहानी बुनते रहे हैं। असल में वे जीवन में नूतनता के पहरुए होते हैं। जीवन में आलोड़न-विलोड़न चलता रहता है, पर मनुष्य नवाकांक्षा का सपना बुनता रहता है। यहां तक कि ' धीरे-धीरे बीत जाता है वक्त/नदियां सूख जाती हैं/उजड़ जाते हैं बाग-बगीचे/ विस्मरण लील लेता है बहुत-कुछ/बीत जाती हैं पीढ़ियां/पर बीत कर भी नहीं बीतता/नए का स्वप्न।'

यह सच है कि इंसान ताउम्र अपने सपनों को ही पूरा करने में लगा रहता है। वास्तव में उसकी जिजीविषा की कहानी बयां करते हैं उसके सपने। सपने नहीं होते तो इंसान शायद नवोन्मेष की तरफ लालायित भी नहीं होता, उसके जीवन में उमंग और उल्लास भी नहीं होता। जितेन्द्र सही कहते हैं 'इस सृष्टि में हर कोई प्रतीक्षा कर रहा है किसी न किसी स्वप्न के फलित होने का।' जाहिर है, हर किसी के अपने सपने हैं। 'स्वप्न की कोई एक देह नहीं होती/अलग-अलग समय में/अलग-अलग देशों में/अलग-अलग विचारधाराओं में/वह मिलता है बिल्कुल अलग ढंग से।' चूंकि सपने ही मनुजता की जययात्रा के वाहक हैं, इसीलिए पूरे विश्वास के साथ वह कहता है 'भीतर से कहीं उठती है आवाज/बीत जाएं मनुष्य यदि किसी दिन/नहीं बीतेंगे स्वप्न उनके साथ।' और सपने बचे रहें तो यकीन मानिए जीवन बचा रहेगा, जीवनेच्छा बची रहेगी। मनुष्यता के पक्षधर जितेन्द्र को पूरी उम्मीद है कि 'धरती पर मनुष्य/बचें न बचें/प्रकृति बचाती रहेगी पृथ्वी को/नि:स्वप्न होने से।'

ऐसे दौर में जबकि मनुष्य की संवेदना का आयतन निरंतर सिकुड़ता जा रहा है, उसकी आकांक्षा-एषणा का पहाड़ निरंतर वृहदाकार रूप धारण करता जा रहा है, शक्ति का महात्म्य सतत् बढ़ता जा रहा है, मनुष्यता उसी अनुपात में छिजती जा रही है, कवि आगाह करता है ' जब सब कुछ संभव है तब भी/मनुष्य होना मात्र एक-सा ढांचा होना नहीं है/सृष्टि में चाहे जितने विकास संभव हो जाएं/रोबोट इंसान नहीं हो सकेगा।' सच है कि मनुष्य के मनुष्य होने का सबसे बड़ा सबूत है उसमें मानवधर्मी चेतना का बचे रहना, उसकी मनुष्यता के जीवद्रव्य का बचे रहना। आज के इस घोर भौतिकतावादी दौर में मनुष्य विकास की गगनचुंबी सफलता के बावजूद महज एक कमोडिटी मात्र होकर रह गया है, उसकी आत्मा का रसायन छिजता जा रहा है।कवि की प्रत्याशा है 'एक कम मनुष्यता वाले समय में/चुनौती का शिखर है बचाना/एक साबूत मनुष्य का एक पूरा स्वप्न।'

स्मृतियां मनुष्य का ठिकाना हैं

कवि ही नहीं किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए स्मृतियां उसके जीवन का वह हिस्सा होती हैं जो किसी पड़ाव या छोर पर टूटती-छूटती नहीं हैं बल्कि वे चेतना का ऐसा हिस्सा बनकर बस जाती हैं जिन्हें

नींद नहीं आती है मृत्यु से पहले। स्मृति का कोलाज कवि की रागात्मकता का भी अता-पता बताता है, उसकी जीवन में हिस्सेदारी का भी परिचय देता है। जितेन्द्र की स्मृति में यूं तो उम्र के साथ बहुत-सी यादें चहलकदमी करती यत्र-तत्र दिख जाती हैं, पर कुछ स्मृतियों को वे बड़े जतन से सहेजकर रखे हुए हैं ,ऐसा 'तमकुही कोठी का मैदान' कविता को पढ़ते हुए लगता है। स्कूली जीवन के वे दिन , प्राणों से प्यारी साइकिल का खोना, हंगामेदार राजनीतिक सभाएं, लोकतंत्र को लेकर भरे जाने वाले हुंकार, वादे-नारे सब कुछ को वे अपनी यादों में संजोए हुए हैं। 'लेकिन मैं उस सभा को नहीं भूलना चाहता/मैं उन जैसी तमाम सभाओं को नहीं भूलना चाहता/जिनमें एक साथ खड़े हो सकते थे हजारों पैर/जुड़ सकते थे हजारों कन्धे/एक साथ निकल सकती थी हजारों आवाजें/बदल सकती थी सरकारें/कुछ हद तक ही सही/पस्त हो सकते थे निजामों के मंसूबे/मैं जिस तरह नहीं भूल सकता अपना शहर/उसी तरह नहीं भूल सकता/तमकुही कोठी का मैदान।'

इसी तरह 'गोरखपुर' जो उनका अपना शहर है, जिसने उन्हें सपने दिया और दिया उन सपनों को पाने का हौसला- यह शहर उनकी स्मृति के कोने में सुरक्षित है। उसे याद करते हुए, उसके प्रति कृतज्ञता जताते हुए कवि कहता है 'गोरखपुर ने सिखाया मुझे प्रेम का व्याकरण /अदेखे भविष्य को भर दिया प्रेम के उजास से/ उसने मुझे/मेरे होने का कारण दिया।' यही नहीं, 'जीवन महज दो आंखों का स्वप्न नहीं/इस मंत्र को/ मेरी आत्मा का रसायन बनाया गोरखपुर ने।' अपने बचपन के उस दृश्य को याद कर वे खिन्न हो उठते हैं यह देखकर कि हजारों टन अनाज गोदामों के बाहर सड़ रहा है, पर लोग भूखे-बिलखते हुए अन्न को तरस रहे हैं। आज भी यह स्थिति बदली नहीं है, बल्कि और भी बदतर होती गई है। सच है कि आज के बाजारीकरण के दौर में सरकारों का स्थायी भाव हो गया है देशी-विदेशी पूंजीपतियों का हित, उसे पहले उनकी परवाह है, सारी योजनाएं, सारी नीतियां उन्हें ही पल्लवित करने के लिए बनती हैं। यहां कवि की स्मृति में कैद उस दृश्य की बानगी अवश्य देखें- 'बचपन का एक दृश्य/ अक्सर निकल आता है पुतलियों के एलबम से/दो छोटे बच्चे तन्मय होकर खा रहे हैं रोटियां/बहन के हाथ पर रखी रोटियों पर/रखी है आलू की भूजिया/वे एक कौर में आलू का एक टुकड़ा लगाते हैं/..... बड़े चाव से खाते हैं/रोटियां खत्म हो जाती हैं/ वे देखते हैं एक दूसरे का चेहरा/जहां अतृप्ति है/आधे भोजन के बाद की उदासी है/.....बचपन का यह दृश्य/मुझे बार-बार रोकता है/पर सरकारों को कौन रोकेगा/जिनका स्थायीभाव बनते जा रहे हैं देशी-विदेशी पूंजीपति।'

बचपन की स्मृतियां ऐसी होती हैं कि ताउम्र वे पीछा नहीं छोड़ती। खट्टी-मीठी वे यादें जीवन के उजास को और उल्लसित बनाती रहती हैं। अपने घर आए मेहमान से बतियाते हुए कवि बचपन की स्मृतियों में खो जाता है और सही ही कह उठता है 'भइया आदमी जीवन में चाहे जितना आगे निकल जाए/उसकी स्मृति में शामिल हो जाएं चाहे ढेर सारी दूसरी बातें/या वह भुला दे बहुत कुछ सायास/फिर भी

नहीं भुला पाता अपना बचपन।' इसी प्रकार पिता के कोमल-कठोर स्पर्श भी यादों में रचे-बसे ही नहीं होते बल्कि गाहे-बगाहे मार्गदर्शक बनकर भी उपस्थित होते रहते हैं। सच, पिता होने के बाद ही पिता के स्थान का एहसास होता है। कवि कहता है ' अब मैं पुकारता हूं अपनी बेटियों को /तो जाने क्यों लगता है/जैसे मुझे ही पुकार रहे हैं पिता/मेरी आवाज़ में समाकर।'

जीवन-चक्र के साथ कुछ चीजों से मनुष्य का रिश्ता इतना गहरा बनता जाता है कि उनका साथ छूटने के बाद भी वे स्मृतियों में स्थायी आवास बना लेती हैं। चाहे वह पुश्तैनी मकान हो या जिन्दगी में शामिल होती जा रही जरूरत की तमाम चीजें जैसे आलमारी, कैंची,पलंग आदि। जितेन्द्र घर के बहाने पिता के श्रम को, उनके सपने को, उनकी अभिलाषा को याद करते हैं ' एक-एक पैसा जोड़कर/अपनी जरूरतों को घटाकर/रात-दिन खटकर बनवाया था पिता ने/सपनों का एक घर/..... हमारी आत्मा बसती थी इस घर में/ पर अब कोई नहीं रहता इसमें/ सब गए अपनी राह/ पिता के सपनों का यह घर/एक खाली मकान है अब।'

लोकतंत्र एक रहस्य है

लोक द्वारा लोक के लिए बनाया गया तंत्र लोक के लिए एक रहस्य ही रहा है सदा-सर्वदा। क्योंकि लोक द्वारा लोक का शासन होने के बावजूद लोक ही सबसे ज्यादा छला गया है लोकतंत्र में। माँ-पिता के वार्तालाप के जरिए कवि ठीक ही कहता है 'प्रेम की तरह लोकतंत्र दिखता है खुला-खुला सा/पर रहस्य है/जब जो चाहे/कभी भाषा से/कभी शक्ति से/कभी भक्ति से/कभी छल, कभी प्रेम से/अपनी सुविधा की व्याख्या रच लेता है/ और काठ के घोड़े-सा लोकतंत्र टुकुर-टुकुर ताकता रह जाता है।' इन दिनों लोकतंत्र स्वार्थतंत्र में तब्दील हो गया है। वह सत्ता और सुविधा के हिसाब से चल रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के गणित से चल रहा है। अमर शहीदों के सपनों का अब कोई मूल्य नहीं। आज के लोकतंत्र का सच बयां करते हुए कवि पुकारता है 'आप भी देखिए/यह कैसी स्वतंत्रता है/कि पूंजीपतियों का सारा कारोबार/चल रहा है उधार पर/बैंक खड़े हैं उनके दरवाजे पर/लेकिन 'होरी' को कोई उधार देने को तैयार नहीं।' आम आदमी इस लोकतंत्र में सचमुच गांव का दक्खिन हो गया है। कहने को लोकतंत्र फल-फूल रहा है, गांव तक विकास की गाड़ी पहुंच रही है, वहां भी खड़ंजे बिछ रहे हैं, सड़कें बन रही हैं, बिजली पहुंच रही है, परन्तु आम आदमी की हालत में कोई खास परिवर्तन नहीं हो पा रहा है। विकास नजर आ रहा है कुछ चमचों, कारकूनों, अफसरों के बंगलों पर, उनकी आलीशान गाड़ियों में।आम आदमी आज भी महज वोटबैंक है। कवि अपने मित्र जगप्रवेश के माध्यम से लोकतंत्र के पहरुओं का असली चेहरा उजागर करता है- 'बात-बात में पता चला/जगप्रवेश विधायक होना चाहते हैं/उन्होंने खूब धन-बल जुटाया है बीच के दिनों में/टिकट का प्रबंध पक्का है/उन्होंने आंकडे इकट्ठा कर लिए हैं जातियों के/उनकी अपनी जाति के वोट हैं ढेर सारे।' यह हमारे लोकतंत्र की विडंबना ही है कि वोट की खातिर इंसान की पहचान महज एक जाति-वोट में तब्दील हो गयी है।सारे सामाजिक नाते जातीय गुणा-गणित से तय होने लगे हैं। इनसे ही रिश्तों के नए प्रमेय गढ़े जाने लगे हैं।

चीजें महज पैसा नहीं होती

रोजमर्रा की जिन्दगी में ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जिनका इंसान के साथ एक सहज रिश्ता पनप जाता है। वे उसके जीवन में इसलिए मूल्यवान नहीं होती कि वे कीमती होती हैं, न ही इसलिए कि उनका स्थानापन्न कोई नहीं होता। बल्कि इसलिए वजूद रखती हैं कि वे उसके जीवन का सहचर बन चुकी होती हैं। पैसे से उनका मोल नहीं आंका जा सकता। किसी सगे की तरह उनकी जीवन में अनिवार्य उपस्थिति दर्ज हो चुकी होती है। कवि के लिए 'चीजें आती हैं पैसों से/लेकिन वे महज पैसा नहीं होती/एक लम्बा वक्त गुजारा होता है आपने उनके साथ/आपके जीवन में वे होती हैं/किसी सगे की तरह।' इसीलिए उनका जाना महज किसी वस्तु का जाना नहीं होता बल्कि किसी सगे का हमेशा के लिए दूर हो जाना होता है। जीवन में उसके शामिल होने से जो उल्लास आता है, उसके जाने से वह काफ़ूर हो जाता है। कबाड़ी को आलमारी सौंपते हुए कवि अपने दर्द को इन शब्दों में बयां करता है ' हमारा मूल्यवान संभालते-संभालते/ आज बेमोल बिकी वह/कबाड़ी के लिए एक जर्जर टीन की चादर है/उसके लिए शायद उसे होना भी चाहिए इतना ही/वह नहीं हो सकता भाव विह्वल/और हम भी जब खरीद कर लाए थे उसे/तब कहां थी वह स्मृतियों का ऐसा एलबम/जिसमें शामिल हो बेटियों का बचपन/और हम दिया-बाती की भरपूर जवानी।'

घर-गृहस्थी से जुड़ी ऐसी अनेक चीजें होती हैं जिनके होने से ही गृहस्थी बनती है। वे आदमी के किसी न किसी सपने का हिस्सा हुआ करती हैं। जितेन्द्र श्रीवास्तव के लिए 'हमारे लिए तो हर नई चीज/ किसी न किसी सपने का सच होना है/हमारे सपनों में कई जरूरी-जरूरी चीजें हैं/और खरीदी गई चीजों में बसे हैं कुछ पुराने सपने।' अर्थात् कवि भोगवादी संस्कृति ' यूज एण्ड थ्रो कल्चर' के बरअक्स ममत्व और अपनत्व की भावना का पक्षधर है।

प्रेमा पुमर्थो महान

प्रेम वह रसायन है जिसके बारे में कहा गया है कि प्रेमा पुमर्थो महान। जीवन में यही वह तत्व है जो मनुष्यता का मापक है। घृणा का विलोमार्थी यह शब्द ही स्थायी भाव है जगत में जीव का। कहना न होगा, प्रेम के बगैर मानव सामाजिकी की संरचना ही असंभव थी। जितेन्द्र जी तो कहते ही हैं 'अजर-अमर दिखने वाली चीजें रीत जाती हैं एक दिन/धराशायी हो जाते हैं शक्ति के सारे समीकरण/समय की आंच पर गल जाते हैं स्वर्ण प्रमेय/बीत जाता है सब कुछ/बस नहीं बीतते हैं प्रेम के कुछ पदचिह्न।' यह भी कहना होगा कि निश्चय ही वे बड़े भाग्यशाली होते हैं जिन्हें प्रेम का सलीका हासिल हो पाता है, वरना कवि कबीर तो चेता ही गए हैं कि 'पोथी पढि-पढि जग मुआं, पंडित भया न कोय/ढाई आखर प्रेम का ,पढ़ै सो पंडित होय'। वैसे समाज में आजकल यह दिखावे की चीज अधिक हो गया है, सच्चा प्रेम जैसे रीतता जा रहा है। वजह है स्वार्थ, आत्मकेन्द्रीयता, एकाधिकारवादी मनोवृत्ति। कवि सही कहते हैं 'लोग कहते हैं/सृष्टि का आधार है प्रेम/ पर कैसी विडम्बना है कि सबसे कम है/दुनिया में प्रेम का शऊर।'और प्रेम का शऊर न होने का नतीजा है भयंकर अमानवीयता, पशुता। कहा जाता है कि कभी सारे नाते नेह के ही हुआ करते थे, पर आज मनुष्य

इतना स्वार्थान्ध हो गया है उसके सारे नाते स्वार्थ की तुला पर तय होते हैं। इस प्रेम तत्व का स्खलन ही मानव-मन में बनने वाली खाईं की जड़ है। कवि की ये पंक्तियां कितनी सार्थक हैं 'हर रोज बढ़ रही है खाईं/मनुष्य-मनुष्य के बीच/अमीरी-गरीबी के बीच/राष्ट्र-राष्ट्र के दरम्यान/आजकल ऐसे लोग बढ़ते जा रहे हैं/जिनके होने से शर्मिन्दा हैं पशु।'

प्रेम का वह पक्ष भी जितेन्द्र की कविताओं में व्यंजित हुआ है, जो नितांत पारिवारिक है। वह चाहे पिता का कोमल-कठोर स्पर्श हो या माँ की ममता, नानी का दुलार अथवा पत्नी की शेखचिल्ली, जितेन्द्र श्रीवास्तव प्रेम की इबारत को सदैव शुभ्र और उदात्त बनाए रखते हैं। वर्षों बाद घर में आई रौनक के बहाने माँ के उल्लास को वाणी देते कवि कहता है 'आज वही घर सजा है/उसमें गीत-गवनई है/रौनक है चेहरों पर/गज़ब का उत्साह है माँ में/परसों उतारेगी वह बहू/पाँव जमीन पर नहीं हैं उसके/सब खुश हैं उसके उल्लास में।' और, नानी-दादी के स्नेह-सीख का तो दुनिया में कोई तोड़ ही नहीं होता। बड़े दुलार से ये दुनियादारी की ऐसी सीखें दे जाती हैं जैसे घुट्टी में पिला दिया हो। नानी के स्नेह को महसूस करते हुए कवि कहता है 'धीरे से कहती थीं नानी/मिलने से घटती हैं दूरियां/आने-जाने से बढ़ता है प्यार/शरमाने से बचती हैं भावनाएं/चलने से बनती है राह।' ऐसे ही मांसल प्रेम का एक उदाहरण भी देखें जो पत्नी के प्रसंग में है -' तुमने बांध रखा है सिर को तौलिए से/निकाल रही हो झाले कोने-अंतरे से/इन्हीं में से एक-दो आ गिरे हैं तौलिए पर/लटक रहे हैं तुम्हारे गालों पर/ऐसे में तुम अजब-गज़ब दिखती हो/मेरे टोकने पर हँस देती हो/और सचमुच बदल जाता है मेरी आँखों का रंग/मुझे महसूस होता है/जैसे सृष्टि के सारे फूलों का रंग/उतर आया है तुम्हारी हंसी में।'

ज़बाब कौन देगा

जितेन्द्र श्रीवास्तव की काव्य परिधि में ऐसे अनेक प्रश्न बार-बार उठते हैं जो मनुष्यता का नया प्रमेय गढ़ने के लिए जरूरी हैं। उनसे दो-चार हुए बगैर समकालीन समाज की कोई मुकम्मल तस्वीर बन ही नहीं सकती। किसान-मजदूर हों या उपेक्षित-बहिष्कृत समाज हो, फुटपाथ पर सपने बेचने वाली संजना तिवारी हों, आचरण का नया पाठ पढ़ाती रामदुलारी बाई हों या प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र रचता तमकुही कोठी का मैदान अथवा कबीर या प्रेमचन्द, ये सब अपने साथ ऐसे सवाल लेकर खड़े होते हैं जो हमारे समय-समाज की अधिरचना को चुनौती देते हैं। रामदुलारी बाई दुनिया की आधी आबादी के हक और स्वाभिमान को लेकर खड़ी है। कवि उन्हें एक ऐसे योद्धा की तरह याद करता है जिसने सामाजिक संरचना की चूलें हिला दी- 'रामदुलारी ने वर्षों पहले/ जो पाठ पढ़ाया था अपने पति को/उसका सुख भोग रही हैं/गांव की नई पीढ़ी की स्त्रियां/उनमें गहरी कृतज्ञता है रामदुलारी के लिए/वे उन्हें 'मर्द मारन' नहीं/ योद्धा की तरह याद करती हैं।'

जितेन्द्र प्रेम के भी कवि हैं और प्रतिरोध के भी। कोई भी व्यक्ति जो मनुजता का पक्षधर होगा वह प्रतिरोध के ताप के बगैर मनुष्यधर्मी हो ही नहीं सकता, होगा तो परम्परापोषी, यथास्थितिवादी होगा। कवि

हाशिए पर खड़े समाज की आवाज को सुनता है तो उसे जैसे सदियों की चुप्पी के टूटने की अनुगूंज सुनाई पड़ती है, अनंतकाल से चली आ रही गलतियों पर अंतिम ब्रेक लगता दीखता है, वह नागरिक समाज से उनके साथ होने की अपील करता है ' वे हमसे पूछना नहीं/ अपने हक का भूगोल स्वयं बताना चाहते हैं/..... वे अनंतकाल से चलती चली आ रही/ गलतियों पर अंतिम ब्रेक लगाना चाहते हैं/..... सचमुच वे योद्धा हैं नई सदी के/..... निश्चय ही हमें इस संग्राम में/ होना चाहिए उनके साथ।' आज भी उन्हें प्रेमचन्द के करोड़ों 'गोबर' दिखते हैं जो 'जी रहे हैं जूठन पर/ उनके हिस्से में फटाकोट और फटा जूता भी नहीं है।' आजादी जिसे दशकों पहले धूमिल ने तीन थके रंगों के रूप में देखा था, आज इक्कीसवीं सदी के लगभग एक-चौथाई समय के बाद भी कारोबारियों के दरवाजे पर चाकरी करती दिख रही है। उसमें आम आदमी का अक्स नज़र ही नहीं आता। यह आजादी है केवल पूंजीपतियों , रईसों, नेताओं, अभिनेताओं के लिए। लोकतंत्र का चौथा खंभा भी इन्हीं के इर्द-गिर्द मंडराता रहता है, उसे आम जनता की कोई फ़िक्र नहीं। इस आजादी को प्रश्नांकित करते हुए कवि कहता है ' मीडिया चैनलों के पास ख़बर है/ प्रधानमंत्री के जुकाम की/अभिनेताओं के बदहज़मी की/ पर उनके पास बिलकुल समय नहीं है/ किसानों मजूरों के लिए।' आप इस पर भी कवि से यकीनन सहमत हो सकते हैं कि ' सत्ताएं तिजारत कर रही हैं संवेदना की/ अपने जन्म से/ उनसे मनुष्यता की उम्मीद करना/उन्हें शर्मिन्दा करना है।' इस घोर भोगवादी दौर में सब कुछ बाजारीकरण की भेंट चढ़ता जा रहा है हमारा सच भी, ईमान भी, संवेदना भी। बाजार संस्कृति ने सारी चीजों को ऐसे हड़प लिया है कि जन सरोकारों के अभिव्यक्ति के स्थल भी, मंच भी कहां बचे हैं। जितेन्द्र अपने शहर के तमकुही कोठी के मैदान की व्यथा बताते हुए जैसे पूरे हिन्दुस्तान के ऐसे स्थलों की दास्तां सुनाते हैं, जहां कभी रचा जाता था प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र। वे कहते हैं ' समय बदलने का/ एक जीवन्त प्रतीक था तमकुही कोठी का मैदान/ लेकिन समय फिर बदल गया/ सामंतों ने फिर चोला बदल लिया/ अब नामोनिशान तक नहीं है मैदान का/वहां कोठियां हैं, फ्लैट्स हैं।'

कवि आशावादी है विचलन-विपथन के इस दौर में भी उसे उम्मीद की किरण दिखती है। फुटपाथ पर सपने बेचती संजना तिवारी के रूप में एक आश दिखती है। उसे यकीन है कि पुस्तक संस्कृति की प्रवृत्ति जो कि घोर सांस्कृतिक पराभव के इस दौर में लुप्त होती जा रही है, यदि उसे बचाया जा सके तो कहीं संभव है कि कुछ फर्क पड़े भले ही दाल में नमक के समान मात्र। इसीलिए वह अपील करता है 'दुनिया को देखिए संजना तिवारी की निगाह से/ जो इस बेहद बिकाऊ समय में/अब कम-कम बिकने वाली/ सपनों से भरी उन इबारतों को बेचती हैं/ जो फ़र्क करना सिखाती हैं/ सपनों के सौदागरों और सर्जकों के बीच/..... संजना तिवारी महज एक नाम नहीं/ तेजी से लुप्त हो रही एक प्रवृत्ति हैं/ जिसका बचना बहुत जरूरी है।'

(**परिचय:** लेखक राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र के हिंदी विभाग में सहायक प्रोफ़ेसर पद पर कार्यरत हैं।)